"भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था-एक पुनरावलोकन"

डॉ० कीर्ति शुक्ला

असिस्टेंट प्रोफेसर- संस्कृत

राजकीय महाविद्यालय मानिकपुर

जनपद- चित्रकूट (उत्तर प्रदेश)

हिंदू विचार परंपरा में आश्रम व्यवस्था को जीवन विधि का एक महत्वपूर्ण तत्त्व माना गया है, हिंदू के लिए चार आश्रमों में विश्वास करने की बात सदैव से प्रसिद्ध हैं। वर्ण एवं आश्रम संबंधी नियत सिद्धांत हिंदुओं के जीवन के एक बड़े भाग को नियंत्रित करते हैं ।आश्रम शब्द श्रम धातु में धञ प्रत्यय करके आङ् उपसर्ग जोड़ने से बनता है। जन समूह से दूर एकांत में बने सादे त्याग पूर्ण घर को आश्रम कहा जाता है। प्राचीन काल में त्यागी विद्वान ऋषि, गुरु एवं आचार्य ऐसे स्थान पसंद करते थे। इन्हीं स्थानों पर विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे। आश्रम का एक व्यापक अर्थ भी है, इस अर्थ में जीवन का एक भाग जिसमें कुछ पूर्व निर्धारित क्रियायें ही विशेष रूप से संपादित की जाए उसे आश्रम कहा जाता है। धर्मग्रंथो में ऐसे चार आश्रमों का उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम चारों आश्रमों का उल्लेख **"जाबालोपनिषद"** में किया गया है। आश्रमों की व्यवस्था भारतीय आर्यो द्वारा विकसित की गई , आश्रम शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता अतः यह कह सकते हैं कि यह व्यवस्था उत्तर वैदिक कालीन है । हिंदू समाज में जीवन की वास्तविकता को दृष्टि में रखकर ज्ञान , कर्त्तव्य, और अध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को चार आश्रमों में बांटा गया जिसका अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति थी । हिंदू विचारकों ने मानव के जीवन को सौ वर्ष का माना है और उसे 25-25 वर्षों के अनुसार चार भागो में बांटा है ।यह चार भाग ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ ,वनवास एवं सन्यास चार आश्रम है। इन चार आश्रमों में मानव क्रमशः ज्ञान की प्राप्ति, सांसारिक जीवन का उपभोग, संसार का त्याग , ईश्वर की आराधना और मोक्ष की प्राप्ति के लिए तप करता है। विद्वान लोग आश्रम का अर्थ श्रम से जोड़ते हैं। मनुष्य द्वारा किए जाने वाले श्रम को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. अध्यनात्मक
2. सर्जनात्मक
3. तपस्यात्मक
4. योगात्मक

इसमें मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्यनात्मक श्रम, गृहस्थाश्रम में सर्जन के लिए श्रम , वानप्रस्थ में तप ही श्रम है तथा सन्यास आश्रम में योग की साधना के रूप में श्रम किया जाता है।

महाभारत में वेदव्यास जी का कथन है कि आश्रम को चार सरणियों वाली सीढ़ी जानना चाहिए, जिस पर चढ़कर व्यक्ति ब्रह्म के पास पहुंचता है अथवा मोक्ष प्राप्त करता है ।[1]

ब्रह्मचर्य आश्रम- ब्रह्मचर्य आश्रम मानव जीवन का प्रारंभिक एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण आश्रम है । ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्मचारी के जीवनचर्या को सूचित करती है। उपनयन से ही इस आश्रम में प्रवेश होता है। 5 अथवा 6 वर्ष का विद्यार्थी बालक उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी होकर गुरुकुल में आचार्य के समीप जाता था और आचार्य अपने संरक्षण में लेकर आशीर्वाद देते थे। [2] शिक्षार्थी को गुरु के समीप ले जाना उपनयन का स्थूल रूप है और गुरु द्वारा शिक्षार्थी को जानने योग तत्त्व के पास ले जाना अथवा ज्ञान से परिचित कराना उपनयन का सूक्ष्म धर्म है। उपनीत होकर बालक गुरु से जानने योग्य ज्ञान सीखे और करने योग्य व्यवहार का अभ्यास करें। ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति में इंद्रियों को वश में रखे जिससे एकाग्रता भंग न होने पाये , क्योंकि ब्रह्मचारी वही है जो ब्रह्म के अनुरूप आचरण करें तथा ईश्वर की आज्ञायें माने एवं प्रकट आज्ञा न होने पर भी ईश्वरीय नियमों पर चले कि ब्रह्म सत् है । अतः ब्रह्मचारी सभी ज्ञानेंद्रियों , कर्मेंद्रियों एवं मन को वश में रखते हुए गुरु की सेवा करें तथा प्रमाद छोड़कर अध्ययन एवं धार्मिक क्रियाओं का अभ्यास करें । इस आश्रम में भिक्षाटन द्वारा ही भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती थी । [3] उसमें प्रातः एवं सायं भोजन की अनुमति थी। [4] अत्यंत अनुशासित जीवन होने के कारण नृत्य, संगीत, वाद्य, इत्र ,स्त्री गंध ,छत्र, अंजन आदि वर्जित था। साथ ही मिष्ठान एवं मांस भी निषिद्ध था।

इस प्रकार समस्त भौतिक सुखों का त्यागकर पंच महायज्ञों का अनुसरण करें। ब्रह्मचारी को अपने शरीर का श्रृंगार नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रृंगार कामोद्दीपक होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म ,सदाचार एवं वेदशास्त्र की शिक्षा पाकर अंतिम परीक्षा देकर ब्रह्मचारी स्नातक बनता था । 25 वर्ष की आयु पूरी होने पर ब्रह्मचर्य आश्रम छोड़कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकता है किंतु कोई विद्यार्थी चाहे तो वह उसके बाद भी **अन्तेवासि**न बना रह सकता था "अन्तेवासिन " एक प्रकार के शोध विद्यार्थी थे जो बाद में गुरु भी बन सकते थे । छांदोग्य [5] उपनिषद में ब्रह्मचर्य की अवधि 12 वर्ष मानी गई है। अथर्ववेद [6] में कन्याओं के लिए ब्रह्मचर्य पालन का विधान मिलता है ।

गृहस्थ आश्रम :-समावर्तन या दीक्षांत समारोह के पश्चात ब्रह्मचारी गुरुकुल से अपने घर लौट कर आता था तत्पश्चात विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था । गृहस्थ का अर्थ है - "गृह में पत्नी के साथ रहने वाला" बहुत से शास्त्रकारों ने पत्नी को ही गृह [7] कहा है । गृहस्थ आश्रम के कई उद्देश्य हैं जैसे -रति- सुख, संतति- सुख आदि। अथर्ववेद [8] में संतान उत्पत्ति करना गृहस्थ का प्रमुख धर्म माना गया है ।मनु का कथन है जैसे सब नदी -नद समुद्र में जाकर स्थिर हो जाते हैं वैसे ही तीनों आश्रम गृहस्थ में ही स्थिति प्राप्त करते थे [9]। गृहस्थ के लिए पांच महायज्ञों का विधान है- ब्रम्ह यज्ञ,पितृ यज्ञ , देव यज्ञ, भूत यज्ञ, नृयज्ञ ।मनु के अनुसार चूल्हा ,चक्की, झाड़ू, उखल मूसर और घडौची इससे हमें पाप की निवृत्ति के लिए पांच यज्ञ करणीय है। जो व्यक्ति इन यज्ञों को नहीं करता उसका परलोक बिगड़ जाता है। इसी आश्रम में व्यक्ति ऋणत्रय से मुक्त हो जाता था ।स्वाध्याय एवं विद्यादान से 'ब्रह्म यज्ञ' पूरा होता है इसके द्वारा मनुष्य ऋषियों के ऋण से मुक्त हो जाता है। श्राद्ध तर्पण से 'पितृ यज्ञ' संपन्न होता है । अग्नि में आहुति देकर हवन करने से 'देव यज्ञ' होता है इससे देवताओं का ऋण चुकता है। भोजन का अंश, कीड़े मकोड़ों के लिए भूमि पर रखने को "बलि वैश्य देवयज्ञ" कहते हैं यही "भूत यज्ञ" है अतिथि की सेवा सत्कार 'नृयज्ञ 'है ।यही एक आश्रम है जिसमें चाहे राजा हो या प्रजा, अपने समस्त दायित्वों का निर्वहन करता था। जो आज भी यथार्थ है।

भारतीय संस्कृति में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा नैतिक सभी दृष्टिकोण से गृहस्थाश्रम का अत्यधिक महत्व है। अतः गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा गया है ।

वानप्रस्थ आश्रम - जीवन का तृतीय आश्रम वानप्रस्थ आश्रम है। जिसका अर्थ है-" वन में रहकर जीवन यापन करना" इस आश्रम में कोई भी व्यक्ति 25 वर्ष तक गृहस्थाश्रम में कर्मार्जन तथा धर्मार्जन करके वेद विहित यज्ञ आदि क्रियाओं द्वारा अंत:करण को शुद्ध कर सांसारिक मोह माया को त्याग करने का यत्न करते हुये वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है । वास्तव में घर गृहस्थी में रहते हुये जीवन को सहज रूप से व्यवस्थित करने हेतु एक ऐसे स्तर की आवश्यकता होती है जहां वह उसके लिए समुचित यत्न करें । गृहस्थ के समस्त कर्त्तव्यों को भली-भांति पूरा करने के उपरांत वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया जाता है। कुछ ग्रथों में वानप्रस्थ के लिए बैखानस शब्द का प्रयोग मिलता है। वानप्रस्थ का उद्देश्य विद्या तपस्या की वृत्ति एवं शरीर की शुद्धि कहा गया है। वानप्रस्थी को संपूर्ण समय वेदों , उपनिषदों के अध्ययन व तपस्या में व्यतीत करना चाहिये क्योंकि इन्हीं उपक्रमों के माध्यम से उसका शरीर शुद्ध एवं आत्मा का उत्कर्ष होता है। अध्ययन एवं ध्यान ही वानप्रस्थ का मुख्य साधन है। अनुशासन पर्व के अनुसार ब्रह्मचर्य, क्षमा, शौच ही वानप्रस्थी के सनातन धर्म हैं। जिसका पालन करके वह स्वर्ग को प्राप्त करता है। वानप्रस्थ आश्रम में प्राय: 50 से 75 वर्ष तक की अवस्था तक रहा जाता है । शास्त्रोक्त विधि से सभी नियमों का पालन करते हुये यदि वानप्रस्थ आश्रम में ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक दृष्टिकोण से माया मोह का परित्याग कर वानप्रस्थी धार्मिक, बौद्धिक, आत्मिक उन्नति में तल्लीन हो जाता था ।वानप्रस्थ जीवन द्विज के लिए भौतिक सुखों से मुक्ति तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष का उपक्रम था।

सन्यास आश्रम- संन्यास का अर्थ है छोड़ना, त्याग करना। वानप्रस्थ आश्रम में सांसारिक भोगों एवं संबंधियों से मोह और अपने निवास का त्याग किया जाता है। इस आश्रम में व्यक्ति शरीर धारण मात्र के लिए अन्न ग्रहण करते हुए प्रत्येक प्रकार से संसार से विमुख हो जाता था ।सन्यास आश्रम में धर्म के पालन का फल ब्रह्म तत्व की प्राप्ति कहा गया है । सन्यासी का जीवन राग, द्वेष माया मोह से रहित एवं पूर्णतया एकाकी होता था । मन,चित्त तथा इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण आवश्यक था। संपत्ति ,संतति एवं पत्नी आदि के प्रति सदैव अनासक्ति का निर्देश था। [11] पांच यज्ञ आदि नित्य कर्म सन्यास के लिए त्याज्य है। सांसारिक कर्मों के बंधन से निराश होकर मनुष्य का अधिकारी नहीं होता ।सन्यासी के लिए निर्देश दिया गया है कि वह एक ही वस्त्र धारण करें ।शिष्य न बनाये ,न ही उपदेश देकर अपनी विद्वता प्रदर्शित करें ।सन्यास आश्रम में प्रवेश लौकिक दृष्टि से मृत्यु है इसलिए इस आश्रम में प्रवेश करते समय शरीर की अंत्येष्टि क्रिया कर दी जाती है। चित्त स्वरूप ब्रह्म में सन्यासी का शरीर रहे या न रहे उसमें कोई अंतर नहीं मानना चाहिए क्योंकि उसके लिए उचित अनुचित का कोई भेद नहीं है। जब आत्म तत्व को परम तत्व में विलीन कर दिया जाता है तो उसके कार्यों की उचित-अनुचित संज्ञा नहीं दे सकते ।सन्यासी हेतु शास्त्रों में ऐसा भी निर्देश दिया गया है कि उन्मुक्त न होते हुये सन्यासी अपनी परम अवस्था में जगत की चेतना नि: श्रेयस हो जाने पर इंद्रियों को अपने विषयों में समेट ले और करधनी, लगौटी, दंड , कमण्डल जल में छोड़कर दिगंबर होकर जल में वितरण करें। भारतीय संस्कृति में साधना ,तप एवं योग के कारण सन्यासी की प्रतिष्ठा समाज में अधिक थी तथा जन सामान्य में पूजनीय थे, आज भी सभी प्रकार के सन्यासी पूजनीय है ।

कालांतर में आश्रम व्यवस्था अव्यावहारिक होने लगी क्योंकि हिंदुओं में अपवाद स्वरूप थोड़े ही मनुष्य आश्रमों में विधवत प्रवेश करते रहे । आश्रमों में ब्रह्मचारी बनकर प्राप्त की हुई शिक्षा जीवन की वास्तविकता से दूर होती रही । जिससे ब्रह्मचर्य आश्रम से लौट कर लौकिक कर्त्तव्य करने की भावना विकसित नहीं हुई, उन्हें इसकी हानि हुई ।जीवन में आर्थिक क्रिया का स्थान धीरे-धीरे ऊंचा होता रहा और हिंदू अपने और गुरु के आश्रमों में बालकों को भेजने का प्रचलन टूटने लगा । माता-पिता अपने पुत्रों को कठोर जीवन बिताना पसंद नहीं करते थे ।

गृहस्थ आश्रम में अर्थ एवं काम सेवन ,प्रधान होता गया। परवर्ती काल में इस अर्थ एवं काम सेवन को एक मानवीय कमजोरी न मानकर इसे मनुष्य की एक स्वाभाविक वृत्ति मान लिया गया । 50 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर गृहस्थी न छोड़ने की दिशा में भी किसी की निंदा नहीं होती थी । सांसारिक असफलता जनित निराशा से लोग जब संन्यास ले लेते थे ऐसे लोग आशा ,खेद, आलस्य के कारण साधुवेश धारण करने लगे ।मठ- मंदिरों की संपत्ति से आकृष्ट होकर गद्दी पाने की आशा से थोड़े बहुत लोग सन्यासी होते रहे एवं वास्तविक वैराग्य धर्मशास्त्र में लिखी एक कल्पना मात्र रह गया। आश्रम व्यवस्था की प्रकृति मानव व्यवहार एवं आशाओं के विपरीत होने के कारण कभी अधिक व्यवहित नहीं हुई । मानवीय उद्देश्यों के सापेक्ष महत्त्व में परिवर्तन होने से लौकिक ,भौतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की जीवन में प्रधानता हो गई जिससे यह व्यवस्था प्रायः लुप्त हो गई ।

अतः यह कहा जा सकता है कि आश्रम व्यवस्था के कारण तात्कालीन समाज पूर्णरूपेण व्यवस्थित एवं समृद्ध किंतु कालांतर में आश्रम व्यवस्था शिथिल होती गई अर्थात भौतिकवादी युग में इसका वर्चस्व खत्म होने लगा किंतु जीवन में समरसता एवं सौहार्द हेतु आज इस समाप्त प्रायः आश्रम व्यवस्था की नितांत आवश्यकता है।[12]

आश्रम व्यवस्था की उपादेयता एवं अव्यवहारिकता-- भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का स्थान सर्वोपरि एवं महत्वपूर्ण था ।मनुष्य के जन्म के साथ उनकी आंतरिक प्रवृत्तियां उत्पन्न होती थी तथा आयु के अनुसार क्रियाकलाप होते थे ।इसी को दृष्टिगत करते हुए मानव जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया। बाल्यावस्था में सांसारिक वस्तुओं के प्रति बालक उत्साहित एवं जिज्ञासु होता है इसी कारण ज्ञानवर्धन हेतु ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था की गई। युवावस्था में शारीरिक भोग विलास एवं भौतिकता हेतु उत्साहित होने के कारण गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था एवं प्रौढावस्था में अनुभव रहता है किंतु शक्ति का पतन होने लगता है तथा व्यक्ति भी स्वभाव से अंतर्मुखी हो जाता है इसलिए वृद्ध जर्जर शरीर में आत्मशक्ति के स्रोत प्रस्फुटित किये जाने के लिए संन्यास आश्रम की व्यवस्था की गई ।

अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक सांसारिक आकर्षण से दूर रहकर इंद्रियों पर नियंत्रण रख ज्ञानार्जन करता था तथा गृहस्थाश्रम में देव ,पितृ ,ऋषि ऋण से मुक्त हो जाता था इसी प्रकार वानप्रस्थ में माया- मोह तथा इंद्रिय -निग्रह के अभ्यास द्वारा धार्मिक ग्रंथो का अध्ययन-अध्यापन करता था। साथ ही संचित उपदेश एवं ज्ञान को समाज में प्रदान करता था। सन्यास आश्रम में मोक्ष प्राप्ति की साधना में तत्पर हो जाता था । यहीं आश्रम व्यवस्था का सामाजिक महत्व है। भौतिकवादी युग में इसका वर्चस्व खत्म होने लगा किंतु जीवन में समरसता एवं सौहार्द हेतु आज समाप्त प्राय आश्रम व्यवस्था की नितात आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ

01.चतुष्पद हि नि: श्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।

एतमारूम्ह नि: श्रेणी ब्रह्मलोके महीयते।। (महाभारत)

02. त्वं जीव शरद: शतं वर्धमान।

आयुष्मान तेजस्वी वर्चस्वी भूया:।।

03. मनुस्मृति- 2/48

04. मनुस्मृति-2/56

05. छांदोग्य उपनिषद – 40/10/1

06. : ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम। अथर्ववेद - 11/05/ 18

07. सूर्यकांत वैदिक कोश पृष्ठ संख्या 236

08. अथर्ववेद-14/2/71

09. मनुस्मृति- 6/90

10. महाभारत शांति पर्व- 61/9, 2, 42/8

11. . महाभारत शांति पर्व - 192/3

12. धर्मशास्त्र का इतिहास पीवी काणे खंड 1